शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
222 Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com/* https://doi.org/10.31995/shodhmanthan

प्राचीन भारत में शिक्षण संस्थायें

डॉ0 एन्द्री शास्त्री

Email : shastriandrey59@gmail.com

सारांश

प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन में जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति माना गया था और न केवल इस हेतु वरन व्यक्तिव के विकास के लिये भी शिक्षा को महत्वपूर्ण माना गया था। अतएव प्राचीन भारतीय विचारकों/मनीषियों द्वारा जीवन को चार भागों में विभक्त करते हुए चर्तुश्रम की व्यवस्था की गयी थी, जिसमें ब्रहम्चर्य आश्रम को केवल शिक्षा के लिए ही नियत कर दिया गया था। निश्चित रूप से यह मनोवैज्ञानिक सह वैज्ञानिक व्यवस्था थी । इस तथ्य से शिक्षा की महत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है ।

प्रत्येक घर का हर बालक/बालिका शिक्षित हो सके इसके लिए पिता को ही उत्तरदायी बनाया गया था, जो बालक का प्रथम गुरू होता था। कदाचित् कुल के गुरू होने के कारण ही प्राचीन शिक्षा पद्धति को 'गुरूकुल पद्धति' के रूप में जाना गया । कालान्तर में शिक्षा की सम्पन्नता आचार्यो, मुनियों द्वारा विभिन्न आश्रमों में की जाने लगी ।

शिक्षा का प्रारम्भ कब और कैसे हो इस सम्बन्ध में भी निश्चित विधान किया गया था। शिक्षण संस्थाओं का समय–समय पर विकास, शिक्षण सत्र, पाठ्य विषय, गुरू से सम्बन्ध, शिक्षण शुल्क, परीक्षा व्यवस्था एवं शिक्षण संस्थाओं के प्रबन्धन आदि पर प्रस्तुत लेख में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालते हुए आधुनिक समय में शिक्षण संस्थाओं द्वारा प्राचीन शिक्षण संस्थाओं से सीख लेते हुए विकासोन्मुख एवं रोजगार परक शिक्षा प्रदान किये जाने पर भी प्रकाश डाला गया है ।

मुख्य शब्द *– प्राचीन भारत, शिक्षण संस्थाएं, गुरूकुल, पाठ्यक्रम*

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय विचारकों ने मानव जीवन का लक्ष्य केवल जीवन जीना और भोग तक ही सीमित न रख कर, आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष को प्राप्त करना भी माना था। अतएव जीवन की इस वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए ज्ञान, कर्तव्य, त्याग और आध्यात्म को जीवन का आधार माना गया था। इसी कारण प्राचीन भारतीय मनीषियों ने सम्पूर्ण जीवन को– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास– चार आश्रयों में विभक्त किया गया था। इनमें ब्रह्मचर्याश्रम केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए ही नियत था। इस प्रकार ज्ञान की महत्ता प्राचीन भारतीय समाज में स्वयं सिद्ध है। इसी से मुक्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति सम्भव थी, ऐसा विचार

प्रतिपादित किया गया था। ज्ञान अथवा विद्या से व्यक्ति के कर्म और आचरण को परिष्कृत होना माना गया था। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में विद्या अर्थात् ज्ञान के महत्व का अनेकशः वर्णन किया गया है। विद्या के बिना मनुष्य का जीवन अंधकारमय माना गया। इतना ही नहीं विद्याहीन मनुष्य को पशुवत कहा गया है। संक्षेप में शिक्षा का उद्देश्य निम्नलिखित की पूर्ति करना था –

1. व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास
2. चरित्र निर्माण
3. सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन
4. कौशल विकास एवं वृद्धि
5. संस्कृति का संरक्षण

शिक्षा का प्रारम्भ

शिक्षा का प्रारम्भ विद्यारम्भ संस्कार से माना गया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय समाज में जीवन के परिष्करण हेतु संस्कारों की अवधारणा की गयी थी, जो संख्या में सोलह थे, उनमें से ही एक विद्यारम्भ संस्कार भी था। विद्या का आरम्भ प्रायः पाँच वर्ष की अवस्था में किया जाता था, परन्तु सुनियोजित शिक्षा का प्रारम्भ 'उपनयन संस्कार' के पश्चात ही किया जाता था, जिसके लिए प्रायः 10 से 12 वर्ष की आयु नियत की गयी थी।

गुरूकुल

प्राचीन काल में बालक की शिक्षा उसके 'कुल' में ही सम्पन्न होती थी। इस प्रकार 'कुल' ही उसकी प्रथम पाठशाला थी और पिता ही पहला गुरू होता था, जो अपनी संतति को वेदों तथा गायत्री मंत्र की शिक्षा देता था। इस प्रकार प्राचीन भारत में शिक्षण संस्थाओं के रूप में 'कुल' का बहुत महत्व था। अतएव ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में 'कुल' के ही गुरू होने के कारण इसे गुरूकुल कहा गया था।

उपनिषदों में गुरूकुल के स्थान पर 'आचार्य कुल' शब्द मिलता है। जो छात्र आचार्य कुल में रहकर शिक्षा ग्रहण करता था उसे 'आचार्य कुल वासी' या 'अंतेवासी' कहा जाता था। गुरूकुल प्रायः गांव से दूर अवस्थित होते थे । कदाचित कोलाहल मुक्त वातावरण, एवं चित्त की स्थिरता एवं एकाग्रता के लिए ही, ऐसा किया गया था, लेकिन डॉ0 अल्टेकर जैसे विद्वान इसे पूर्णतया सही नहीं मानते। पुराणों के अनुसार भी यही मत व्यक्त किया जा सकता है कि पौराणिक विद्यालयों की स्थिति अधिकांशतः नदी तट पर तथा वनों में और नगरों में भी होती थी। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि आचार्य प्रायः गृहस्थ होते थे और उनका निवास स्थान ही विद्यालय होता था।

बौद्धविहार

उत्तर वैदिक काल में हिन्दू समाज में उत्पन्न अनेक जटिलताओं एवं कर्मकाण्डों से ग्रस्त आमजन ने गौतम बुद्ध के विचारों एवं उनके दर्शन को स्वीकार किया, जो जीव और जगत के व्यवहारिक पक्ष से सम्बन्धित था। फलस्वरूप एतदनुसार शिक्षा व्यवस्था भी प्रभावित हुई। बौद्ध

काल में विश्व प्रसिद्ध बौद्ध संघों, विहारों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय होगा कि आरम्भ में बौद्ध संघ केवल धर्म प्रचार–प्रसार के केन्द्र थे। कालान्तर में यही बौद्ध मठ और विहार बौद्ध शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बन गए। बौद्धकालीन प्रमुख शिक्षा केन्द्रों में–

1. पाटलीपुत्र
2. श्रावस्ती
3. राजगृह
4. वैशाली
5. गया
6. कुशीनगर
7. कान्यकुब्ज
8. वाराणसी
9. सारनाथ
10. नालन्दा
11. कपिलवस्तु
12. मुंगेर
13. मथुरा
14. अयोध्या
15. कश्मीर, आदि उल्लेखनीय हैं, इनमें से कतिपय का उल्लेख हुएनस्वांग साहित्य में भी मिलता है। उपरोक्त बौद्ध विहारों के अलावा हिन्दू मंदिर एवं मठ भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। इन मंदिर–मठों में शिक्षा कब प्रारम्भ हुई यह तथ्य स्पष्ट नहीं है, तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि दसवीं शताब्दी के पहले मठों का प्रमाण नहीं मिलता।

षिक्षण संस्थाओं का महत्व

शिक्षा, व्यक्ति के लिए किस प्रकार और कितनी महत्वपूर्ण है। इसका उल्लेख आरम्भ में किया जा चुका है। शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति या इसका महत्व, शिक्षण संस्थाओं पर ही निर्भर करता है। शिक्षण संस्थायें ही वह स्थान है, जहां शिक्षा की ज्योति जलती है। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में जो महत्व शिक्षा का है उससे कमतर शिक्षण संस्थाओं को नहीं आका जा सकता।

शिक्षण संस्थाओं के कार्य

विद्यार्थी जीवन ही व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास का उपयुक्त काल माना गया है। यह अवधि प्रायः शिक्षण संस्थाओं में ही बीतती है। अतएव मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षण संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इस सन्दर्भ में जब हम प्राचीन शिक्षण संस्थाओं पर दृष्टिपात करते है तो पाते है कि उस समय आचार्य छात्र के व्यक्तित्व के विकास हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहता था। गुरू के समीप रहकर छात्र विभिन्न नियमों एवं व्रतों का पालन करते हुए आत्मविश्वास को प्राप्त करता था।

गुरूकुलों में सादगीपूर्ण जीवन, जप–तप युक्त दिनचर्या, भोग विलास से विरक्ति आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसका यही उद्देश्य था कि छात्र के जीवन को सादा रखकर, उच्च विचारों को विकसित किया जा सके। यह व्यक्तित्व के विकास हेतु एक प्रमुख सूत्र था।

सदाचार के जिन कठोर नियमों का पालन ब्रहमचारी के लिए अनिवार्य था, उसका आचार्य खुद पालन करता था।

शिक्षण संस्थाओं में दण्ड का भी विधान था, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास एवं नियंत्रण में सहायक था। वस्तुतः दण्ड विधान का उद्देश्य छात्र को अनुशासित करना था।

गुरूकुलों में श्रम की महत्ता पर भी जोर दिया गया था। भिक्षाटन और श्रम आत्मनिर्भरता के विकास की एक कड़ी थी।

उपरोक्त तथ्यों को समाहित करते हुए संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि प्राचीन शिक्षण संस्थाओं की व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक नियंत्रण में भूमिका प्रमुख होती थी। यही प्राचीन शिक्षण संस्थाओं के प्रमुख कार्य थे।

शिक्षण सत्र एवं शिक्षाकाल

शिक्षण सत्र का प्रारम्भ प्रायः आषाढ़, श्रावण एवं भाद्रपद की पूर्णिमा को कई शास्त्रकारों ने उपयुक्त माना था। शिक्षा की शुरूआत के सम्बन्ध में आरम्भ में ही उल्लेख किया जा चुका है। कागज–पुस्तकों आदि के अभाव में पाठ को कंठस्थ करना होता था। इसके लिए प्रातः कालीन समय ही उपयुक्त माना गया था।

शिक्षा की अवधि के बारे में स्पष्ट रूप से एक मत का प्राचीन साहित्य में अभाव है। 12 वर्ष से लेकर कई वर्षों तक के अध्ययन काल का उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध है। स्वाध्याय पर विशेष जोर दिया गया था।

पाठ्यक्रम

समस्त विषयों का उद्गम वेदों को ही माना गया है। अतएव वेद त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद) शिक्षा के प्रमुख विषय थे। बाद में अथर्ववेद को शामिल किया गया।

बौद्ध काल में आरम्भिक स्तर पर विद्यार्थी को संस्कृत, व्याकरण और साहित्य के ज्ञान के साथ–साथ, पालि का भी सामान्य ज्ञान कराया जाता था। उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में संस्कृत साहित्य, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं त्रिपिटकों का अध्ययन शामिल था। नालन्दा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालय बौद्धकालीन प्रमुख शिक्षण संस्थाएं थी।

शिक्षण का माध्यम

प्रारम्भिक स्तर पर बालकों को स्वर का ज्ञान कराया जाता था। वेद पाठ में तनिक भी उच्चारण दोष न होने पाये इसका विशेष ध्यान रखा जाता था। पाठ को कंठस्थ किया जाता था, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। प्रवचन, व्याख्या एवं संवाद का समावेश भी प्राचीन शिक्षण पद्धति में था। प्राचीन भारत में संस्कृत भाषा शिक्षा का माध्यम थी। बौद्ध काल में प्राकृत भाषाओं को प्रोत्साहन मिला।

शिक्षण शुल्क

प्राचीन काल में आचार्य छात्र को निःशुल्क ज्ञानार्जन कराता था। गुरूदक्षिणा, राजाओं द्वारा दी जाने वाली सहायता, यज्ञ एवं अन्य धार्मिक अवसरों पर मिलने वाले दान आदि ही प्राचीन शिक्षण संस्थाओं की आय के साधन थे। उल्लेखनीय है कि जहां एक ओर शिक्षा हेतु धन की प्राप्ति निन्दनीय मानी गयी थी, वहीं दूसरी ओर गुरूदक्षिणा एवं दान आदि की व्यवस्था करके शिक्षण संस्थाओं की आय को निश्चित करने की कोशिश करते हुये आचार्य के जीवन यापन की समुचित व्यवस्था की गयी थी। गुरू शिष्य सम्बन्ध परस्पर प्रेम एवं आदर पर आधारित थे, ये सम्बन्ध व्यवसायिक तो बिल्कुल नहीं थे।

परीक्षाएं

गुरूकुलों में अथवा आचार्य के पास विद्यार्थियों की संख्या अधिक नहीं थी। अतएव आचार्य प्रत्येक की प्रगति पर कड़ी निगरानी रखता था। विद्यार्थी को प्रतिदिन ही परीक्षा देनी पड़ती थी। पिछला पाठ याद करने पर ही अगला पाठ पढ़ाया जाता था।

शिक्षा समाप्ति

ब्रहमचर्य काल में 'समावर्तन' संस्कार शिक्षा समाप्ति का सूचक था। समावर्तन का आशय 'लौटने' से है अर्थात् अध्ययन की समाप्ति के उपरान्त गुरूकुल से अपने घर को लौटना। पाणिनि ने अध्ययन की समाप्ति को 'समापन' कहा है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि शिक्षा समाप्ति के उपरान्त भी स्वाध्याय से प्रमाद न करने का निर्देश दिया जाता था, क्योंकि पुस्तकें दुर्लभ और बहुमूल्य थी ऐसी दशा में ज्ञान की संरक्षा हेतु स्वाध्याय ही एक मात्र साधन था, जिससे पाठ चिर स्थायी हो सके।

गुरू शिष्य सम्बन्ध

प्राचीन काल में आचार्य अपने पुत्र एवं अंतेवासी को एक समान भाव से रखता था । शिष्य भी अपने आचार्य को पितृतुल्य मानता था। आचार्य पत्नी भी विद्यार्थी की माता के समान थी। आचार्यगण अपने शिष्यों को 'सौम्य' कहते थे; जिसका आशय–चन्द्रमा के समान प्यारा था। दिन–रात गुरू की सेवा करना शिष्य का परम कर्तव्य माना गया था। इसी प्रकार आचार्य भी शिष्य को पुत्रवत स्नेह प्रदान करता था।

स्त्री शिक्षा

प्राचीन काल में शिक्षण संस्थाओं के दरवाजे स्त्रियों के लिए भी खुले थे। ऋग्वेद में अनेक मंत्रों की रचनां विदुषियों द्वारा की गयी थी। इनमें विश्वारा, घोषा, सिकता, लोपामुद्रा, उपाला आदि के नाम प्रमुख है। वैदिक काल में बालिकाओं का उपनयनभी किया जाता था। स्पष्ट है कि वैदिक काल में स्त्री शिक्षा उन्नत रूप में थी।

उत्तर वैदिक युग से स्त्रियों की शिक्षा में परिवर्तन हुआ। अब वे पुरूषों की अपेक्षा हेय समझी जाने लगी। इसका प्रभाव स्त्री शिक्षा पर भी पड़ा और पुराणों एवं स्मृतियों का काल आते–आते उनकी वैदिक शिक्षा पर रोक लगा दी गयी। बाल–विवाह, स्त्री शिक्षा के लिए सबसे

बड़ा बाधा बन गया। स्त्रियों द्वारा उच्च शिक्षा ग्रहण किए जाने सम्बन्धी प्रमाण, स्मृतियों में बहुत कम मिलते है। अब उन्हें कौमार्यावस्था, विवाह के उपरान्त तथा वृद्धावस्था में क्रमशः पिता, पति एवं पुत्र के नियन्त्रण में रख दिया गया था।

प्राचीन एवं आधुनिक शिक्षण संस्थाएं : एक दृष्टि

प्राचीन शिक्षण संस्थाओं का उद्देश्य, व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास कर समाजिक उत्थान करना था। आधुनिक शिक्षण संस्थाओं का भी यही उद्देश्य एवं दायित्व है। अनुशासन एवं आर्दशवादिता जहॉ प्राचीन शिक्षण संस्थाओं में परिलक्षित है, वही आधुनिक समय में इसमें ह्रास हुआ है और शिक्षण संस्थाएं दलगत राजनीति से भी प्रभावित हुई है। गुरू शिष्य सम्बन्धों के ह्रास के साथ ही परस्पर कर्तव्य बोध में भी कमी परिलक्षित हो रही है।

अथर्ववेद के अनुसार यदि उचित ढंग से शिक्षा दी जाए तो समस्त सिद्धियों की प्राप्ति सम्भव है। आज इसी दृष्टिकोण की आवश्यकता है, तभी शिक्षण संस्थायें अपने उददेश्य की पूर्ति करके सम्यक रूप से समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वहन कर सकतीं हैं ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव, *प्राचीन भारत का इतिहास,* यूनाइटेड बुक डिपो, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद वर्ष 1993
2. डॉ0 अनन्त सदाशिव अल्टेकर एवं काशी प्रसाद जायसवाल, *प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति–* , मनोहर प्रकाशन, के 14/4 जतनवर वाराणसी वर्ष 1955
3. राजनीति धर्म तथा दर्शन, *प्राचीन भारतीय संस्कृति कला,* – डॉ0 ईश्वरी प्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्मा, मीनू पब्लिकेशन्स 20 म्योर रोड इलाहाबाद
4. वी0डी0 महाजन, *भारतीय शिक्षा का इतिहास,* एस0 चॉद एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली वर्ष 1980
5. डॉ0 रामलाल सिंह, *प्राचीन भारतीय संस्कृति कला,* धर्म एवं दर्शन, प्रयाग पुस्तक सदन इलाहाबाद वर्ष 1990